बदरंग

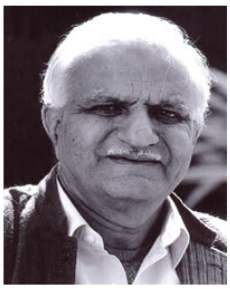

महेंद्र भल्ला

बदरंग

जहाँ तक मुझे याद है उस स्टेशन के दोनों तरफ पटरियाँ होने पर भी प्लेटफार्म तक जाने के लिए कोई पुल नहीं है। जहाँ से चाहें, आप गुजर सकते हैं।

प्लेटफार्म खत्म हो गया तो हमने पटरियाँ पार कीं और एक मेड़-सी जगह पर खड़े हो गए।

'ट्रक यहीं आएगा', कुली ने कहा। सामान उतार वह भी खड़ा हो गया।

पास ही खानाबदोशों की एक झोंपड़ी थी। जैसे गंदे छेदोंवाली मिट्टी की पर्त दो छड़ियों पर तिरछी खड़ी हो गई हो। दोपहर थी। मगर धूप निकम्मी-सी चमकहीन पड़ी थी। मैंने देखा, कोई भी ऐसी जगह नहीं थी जिसके संपर्क से धूप चमचमा उठे। ऊपर दूर तक डिपो-नुमा मैली ईंटों के ढाँचे-से बने थे - बेरंगी जमीन पर मरे-से घरौंदे। स्टेशन के दूसरी ओर लंबी ढलान थी जो लंबूतरे-से पुरानी जली घास के टीले में उभरकर खत्म हो जाती थी। यों दिन साफ था, मगर आकाश पुराने घिसे दुपट्टे की तरह बिना लहराए आँखों में जड़ा था।

'ट्रक कब आएगा?'

'आता ही होगा। रोज तो गाड़ी आने से पहले ही खड़ा रहता है।' कुली जल्दी में नहीं था।

झोंपड़ी के बाहर एक स्त्री, दूसरी स्त्री के बालों में कुछ खोज रही थी। दूसरी स्त्री के आगे एक बच्चा पापड़-सी छातियों से दूध पी रहा था। बच्चा ही जानता है, कैसे!

कुली खानाबदोश लड़की को देख रहा था। लड़की मेरी नजर से चूक गई थी। असल में उसके 'कपड़े' और शक्ल जमीन के भूरे रंग से इतना मिलते थे कि उसे एकदम अलग से देख पाना मुश्किल था। पंद्रह-सोलह साल की होगी। फूटता यौवन उस पर उतना ही अजीब लगता था जितना बूढ़े सूखे पेड़ पर छोटी-सी हरी टहनी। उतना ही भविष्य-रहित!

मैंने ध्यान से देखा कि कुली भी जवान था। मगर जिस जवानी को गौर से देखकर पहचाना जा सके वह कैसी होगी, आप समझ सकते हैं। सारे वातावरण में, मकानों में, लैंडस्केप में सूखे कीचड़ की पर्त चढ़ी थी। यहाँ से लौट जाने की प्रबल इच्छा हुई।

'क्यों भई, वह ट्रक कहाँ गया?'

'लगता है, चला गया।'

'किसी से पूछ लो' मगर वहाँ कोई था नहीं। सिवाय खानाबदोशों के। उन्हें क्या मालूम, और मैंने सोचा, यहाँ कुछ भी मालूम करने की क्या जरूरत है। जग मुझ पर बुरी तरह से असर कर रही थी।

'यहाँ कोई रिक्शा-विक्शा नहीं है?'

'एक मोटर-रिक्शा है। वह स्कूल के काम में लगा होगा। साइकिल-रिक्शा तीन-चार हैं। ऊपर डिपो के पास हैं।'

'गाड़ी के वक्त नीचे नहीं आते क्या?'

'कभी आते हैं।' फिर बोला, 'यहाँ आता ही कौन है? मिलिटरी के लोग! उनके लिए ट्रक या जीपें आती हैं।'

'बाकी लोग?'

'बाकी हम-तुम के लिए जरूरत ही क्या है!' वह चुप हो लड़की को देखने लगा।

मेरे पास सर्दियों का बड़ा बिस्तर, एक सूटकेस और एक फाइलों से भर ट्रंक था।

'मैं ही ऊपर तक छोड़ आता हूँ।'

'नहीं, मैंने सामान को, फिर उसे देखकर कहा, 'तुम मुझे सड़क तक छोड़ दो।'

सड़क पर पहुँचकर मैंने उसे विदा किया और अकेला खड़ा हो इधर-उधर देखने लगा। पास एक-दो 'मकान' थे। आँगन में एक-दो सूखी क्यारियाँ थीं। लगता था, उनमें कोई नहीं रहता, सिवाय सूनेपन के। सूनापन भी नहीं, एक अजीब कारणहीनता।

अचानक मोटर-रिक्शा की भड़भड़ाहट सुनाई दी। मेरी धड़कन तेज हो गई। मोटर-रिक्शा मेरे पास ही खड़ा हो गया। दिल्ली के रिक्शों से उलटा वह चारों तरफ से कैन्वेस से ढँका था। पीछे से पर्दा उठा। दो छोटे बच्चे निकले और फौरन ही पासवाले मकान में जाके गुप्त हो गए।

पर्दा अभी उठा था। उसमें चार-पाँच बच्चे और थे। और उनके ऊपर झुकी खड़ी बीस-बाईस बरस की लड़की। मैं चौंका। वह मेरी तरफ देख रही थी। काली तरल विस्मय से भरी आँखें। फूलों से लदी गठी झाड़ी को बीच में बाँध दिया गया हो लेकिन कुछ फूलों की बाँहें, हाथ, मुँह और आँखें दिखाई दे रही हों।

लेकिन यह यहाँ क्या कर रही है? वह भी मुझे देख शायद यही सोच रही थी। अगर विस्मय और तुरंत पसंदगी आधार हैं तो हमने एक-दूसरे को उस वक्त बड़ी कोमलता से महसूस किया। रिक्शा चल पड़ा। उसने पर्दा गिराया नहीं। लेकिन डूबते तारे की तरह तेजी से ओझल हो गई।

वह कुली मेरे पास फिर आ गया। उसकी आँखों में हैरानी थी। मैं न जाने किसका इंतजार कर रहा था। इस तरह तो उम्र-भर इसी जगह खड़ा रहूँगा। उसके पास शायद कोई काम नहीं था। खानाबदोश लड़की भी शायद कहीं चली गई होगी। इसलिए वह मेरे गिर्द मँडरा रहा था।

मैंने सोचा, उससे लड़की के बारे में पूछूँ। मगर क्या फायदा! असल में इस जगह की उजाड़ को थोड़ी देर देख लेने के बाद यही लगता था कि किसी भी चीज का कोई 'फायदा' नहीं। मैं लोगों को प्रायः भूल जाता हूँ, कभी-कभी जगहों को भी। मगर किसी जगह के असर को नहीं भूलता। असर के संग जगी स्मृतियाँ, रंग सब याद रहते हैं। याद ही नहीं, क्योंकि याद तो महज दिमागी बात है, वह असर मनःस्थल में चाकू से खुदा पड़ा रहता है। इसीलिए सोचता हूँ, मैं कवि या पेंटर-कुछ भी हो सकता था। मगर हूँ एक बिजनेस कंपनी में छोटा-मोटा अफसर।

कुली को मुझ पर शायद दया आ गई थी। आधा घंटा गुम रहने के बाद वह कहीं से साइकिल-रिक्शा ले आया। मैंने उसे एक रुपया दिया। उसने मुझे सलाम किया और गौर से रुपये को देखने लगा। मानो सोच रहा हो, इस बीहड़ में वह रुपये का क्या करेगा?

रिक्शा में सामान रख के बैठा तो मेरी टाँगें अटैची के ऊपर थीं और जूते हवा में लहरा रहे थे। मुझे यह काफी हास्यास्पद लगा। मैं चढ़ाई का बहाना करके उतर पड़ा। चढ़ाई थी भी, मगर मरी-सी। यह भी खयाल था कि एक आदमी मुझे खींच रहा है। मन में इसको कभी स्वीकार नहीं कर पाया हूँ। मगर इसकी ओर से तो मैं पहले भी कई बार आँखें मूँद चुका हूँ, मन में यह समझकर कि फिलहाल और तरीका नहीं है।

सड़क यों तो अस्फाल्ट की थी। मगर टूटी हुई, भुरीभुरी, गड्डों से बुरी तरह छिली हुई। थोड़ी दूर चलने के बाद सड़क एकदम ही अच्छी आ गई। जैसे जख्मी बाँह के ऊपर कपड़ा हटाने से चिकनी, दागरहित सुडौल बाँह दिखाई दे जाए। पूछने पर मालूम हुआ, यहाँ से मिलिटरी की सड़क शुरू होती है। पहली नगरपालिका की थी।

लोग, मैंने सोचा, खूबसूरत पहाड़ों, वादियों और विचित्र देशों का वर्णन करते हैं। एक मैं हूँ जो दुनिया में सबसे मामूली और गैरदिलचस्प सड़क और 'नगर' की बात कर रहा हूँ। इस पर मुझे बड़ी हँसी आई। मेरी हँसी शायद इतनी मुक्त थी कि बात को पूरी तरह न भी समझ, रिक्शावाला हँसने लगा। मैंने अपने को रोका।

हँसी, उस लड़की की तरह अप्रत्याशित और इस जगह इतनी असंगत थी कि हल्का-सा डर लगा।

इस उजाड़ जगह का पिसे-फैले कोयले का-सा असर और भी गहरा हो गया।

दफ्तर में कोई नहीं था। मैं बगीचे में टहलने लगा। दो गोल क्यारियाँ थीं जिनमें गुलाब के फूल थे। बुझे-से अनाकर्षक। मैंने छोटा-सा फूल तोड़ा और कोट के कालर पर लगा लिया। मगर लगाते समय यह अहसास हुआ कि आइंदा जब भी फूल लगाऊँगा, इस जगह की याद आएगी। प्रतीक शायद इसी तरह बनते हैं।

मैं यह सोच ही रहा था कि चपरासी ने मुझे सलाम किया।

'साहब कहाँ हैं?'

'खाना खाने गए हैं। तीन बजे तक लौटेंगे।'

'उनको बुला लाओ।' मैंने अपना कार्ड उसे दिया। दूसरी चीजों के अलावा कार्ड का असर चपरासियों पर बहुत पड़ता है।

साहब दक्षिण के थे। उन आदमियों में से जिनके हाथों के ऊपर हल्की सफेद खुश्की जमी रहती है, नाखून बदरंग होते हैं और हथेलियों को देखने को जी नहीं करता। वे गंजे भी थे। सफाचट गंजे नहीं। जहाँ गंज था, वहाँ मैल का आभास! बीच में इक्के-दुक्के बाल!

काफी देर तक बहस करने पर भी फैसला नहीं हो सका। जहाँ हमने काम किया था, उसको देखना जरूरी था। कुछ ऐसे छोटे-छोटे काम थे जो उनके अनुसार नहीं किए गए थे। पड़ताल कल ही हो सकती थी। मुझे ठहरना पड़ रहा है। मैं काँप-सा उठा।

बहस के बाद हम दोनों सड़ी-सी चाय पी रहे थे।

'यह जगह...' मैंने कहना शुरू किया।

'इट इज हॉरिबल!' हालाँकि मैं कुछ इसी तरह के जवाब की उम्मीद कर रहा था। मगर सुनकर थोड़ा विस्मय हुआ। ये साहब जो इस जगह के अंग हैं, इन्हें भी...

'आप यहाँ कैसे रह लेते हैं?'

'यहाँ कैसे रह लेते हैं?' उन्होंने मेरे प्रश्न को दुहराया, 'भई, सामने क्लब है। शाम को वहाँ चले जाते हैं। ताश खेलते हैं, कॉफी पीते हैं... और क्या!'

क्लब कहकर जिस तरफ उन्होंने इशारा किया था, मैंने मुड़कर उधर देखा। एक-दूसरे के सहारे दो बदरंग कमरे खड़े थे। बाहर चार-पाँच बेंचें पड़ी थीं। मुझे प्राइमरी स्कूल की याद आ गई (उसकी नहीं, जहाँ मैं पढ़ा था)। जब छुट्टी हो जाती है तो स्कूल की बेंचों और दीवारों पर उजाड़ बरसती है। मैंने कल्पना की कि उन बेंचों पर चार-पाँच आदमी कॉफी पीते हुए ताश खेल रहे हैं। जिंदगी न जाने कहाँ रहती है?

परिवार में कोई मर जाएगा तो बरसों बाद तक भी उसकी बात होने पर सब अनायास चुप हो जाते हैं। उनके चेहरे फीके पड़ जाते हैं और वे कुछ सोचते-से लगते हैं। इन्सपेक्शन बँगलो की क्यारियाँ और फूल कुछ उन्हीं लोगों के समान लग रहे थे।

फूलों को मैं आज तक विस्मय से देखता आया हूँ। और मेरा खयाल था, ये उन थोड़ी-सी चीजों में से हैं जिन्हें इसी तरह देखता रहूँगा - एक नर्म दयामयी कोमलता से।

मगर सामने फूलों को देखकर लगा, मैं किसी खराब सौदे में इन्हें ले आया हूँ और अब पछता रहा हूँ।

मैं बँगले के पीछे चला गया। शायद खानसामा के बच्चे या बीवी रुचिकर हों। मगर वह चौकीदार के साथ रहता था। बीवी-बच्चे गाँव में रहते थे जिन्हें मिलने वे साल में एक या दो बार जाते थे। मैंने सोचा, हजारों, लाखों लोग नौकरी के लिए तमाम जीवन घर-गिरस्थी से दूर गुजार देते हैं। बात रोज की जानी हुई थी मगर इस वक्त नए तरीके से कड़वी लगी।

रात को मैं 'इडियट' पढ़ता रहा। मुझे प्रिंस मिश्कन से गहरी सहानुभूति हुई, जैसी मुझे कभी-कभी खुद अपने से होती है। दोस्तोवस्की के प्रति इज्जत और अपार सराहना से मन भर गया। मगर मुझे उन पर तरस भी आया। वे जो चाहते थे मनुष्य शायद वह कभी नहीं हो सकेगा। उसका स्वभाव यह नहीं है।

मच्छरों की भनभनाहट और सीली गंध में मैं सोने की कोशिश करता रहा। सुबह उठ के मुझे दफ्तर तार भी देना होगा।

सुबह तैयार होकर मैंने अपना सामान बँधवा लिया। यहाँ से तो आज चला जाऊँगा। मगर, मैंने सोचा, यह जगह क्या सिर्फ यहाँ ही है? वहाँ, घर में भी तो! लेकिन वहाँ और

भी तो बहुत-कुछ है। मुझे वे दोपहरें याद हो आईं जब मुचड़े, मैले-से कपड़े पहने धूप में बैठकर घरवालों के साथ गप्पें लगाया करता था, मामूली मजाकनुमा गप्पें!

मिलिटरी के ट्रक में बैठकर हम चल पड़े। डिपो कई मीलों में फैला था। छोटी-छोटी बैरकें एक-दूसरे से दूर-दूर और छिपी हुई थीं। काम खत्म होने के बाद हम जिस रास्ते से लौट रहे थे, उसके दोनों ओर हजारों बम पड़े थे। बाहर पानी-धूप में पड़े सब अपना असली चमकीला रूप खो चुके थे। बहुतों को जंग भी लग चुका था।

'इनको बाहर क्यों रखा है?' मैंने पूछा।

मैंने पहले कभी बम नहीं देखे थे। इस बात पर मुझे बहुत हैरानी हुई। हजारों-लाखों बम यहाँ पड़े थे। और आजकल बम वैसे भी बहुत महत्वपूर्ण चीज है। मैंने इन्हें देखा भी नहीं था। मुझे न जाने क्यों हँसी-सी आ गई।

उन्होंने मेरा सवाल शायद नहीं सुना। ऊबी नजरों से बमों को देखते रहे। मैंने सवाल दुहराया। उन्होंने मेरी तरफ देखा और कहा, 'इन्हें डिस्मेंटल किया गया है।'

'क्यों?'

'अगर ये एक खास अर्से तक इस्तेमाल न हों तो इन्हें डिस्मेंटल करना पड़ता है।'

'तो इतने सारे बम जाया गए...'

'हाँ! मगर इन्हें फिर भरा जाता है और स्टोर किया जाता है।'

'और फिर डिस्मेंटल किया जाता है', मैंने कहा और हँसने लगा। उन्होंने बेवकूफों की तरह मुझे हँसते देखा, जिससे मेरी हँसी और भी बढ़ गई। उनके चेहरे को देखकर मैंने अपने को किसी तरह रोका और कहा, 'आप नहीं सोचते कि यह कितना हास्यास्पद है! पहले बम बनाओ, फिर तोड़ो, फिर बनाओ, फिर तोड़ो - बच्चों का खेल नहीं लगता?' उन्होंने बात सुनी, हँसी को मुश्किल से रोकते हुए मेरे मुँह को देखा और एकाएक वे भी हँसने लगे।

मैंने देखा है, दो या तीन आदमियों के बीच अगर हँसी शुरू हो जाएगा तो मामूली से मामूली बात पर भी खामख्वाह हँसी आती रहती है। अक्सर एक-दूसरे को देखकर भी हँसी बढ़ जाती है।

हँस चुकने पर मुझे अपनी हँसी रिक्शा में दिखी लड़की की तरह बाहर की चीज लगी।

बावजूद इस बात के कि मैं मिलिटरी के ट्रक में बैठकर आया था, गाड़ी नहीं मिली। अब शाम को मिलेगी। मैं प्लेटफार्म पर टहलने लगा। सिवाय धैर्य रखने के कोई चारा नहीं था। दूर खानाबदोशों की झोंपड़ियाँ दिखाई दे रही थीं। कल की तरह आज भी एक स्त्री, दूसरी स्त्री के बालों में टटोल रही थी। थोड़ी मुश्किल से मिट्टी-रँगी लड़की भी दिखाई पड़ी। कुछ भी नहीं बदला था। बदलेगा भी नहीं। 'मकान' वैसे ही खड़े थे जैसे कल! और चारों तरफ पिसे कोयले-सा खड़ा वायुमंडल। अगर आप चुपके, लगभग चोरी से देखें तो समय शायद होता ही नहीं है। समय का भ्रम इस जगह पर सबसे कमजोर था। शहरों में ही यह भ्रम असलियत तक पहुँचा हुआ है।

मैंने स्टेशन-मास्टर से कहकर वेटिंग-रूम खुलवाया। दरवाजा खुलते ही लगा, बरसों के बाद इसे खोला गया था। भीतर जाले थे, सीली बदबू और बासी ठंड! स्टेशन-मास्टर अपनी निगरानी में सफाई कराने लगा। जमादार और स्टेशन-मास्टर, और इस कब्र-से वेटिंग-रूम की (कुछ दूर खड़े 'तमाशाइयों' की भी) तरफ देखकर मुझे अपने देश की गरीबी और पिछड़ेपन पर रोना-सा आ गया। शायद इसलिए भी (या सिर्फ इसीलिए) कि मुझे ऐसे देश में रहना पड़ रहा है। मैं मुस्कराया। अगर आदमी गहराई में स्वार्थरत न हो तो शायद कोई बड़ा रद्दोबदल नहीं कर सकता।

सफाई होने के बाद भी वेटिंग-रूम में बैठना असंभव था।

मैं फिर टहलने लगा। सिर झुकाकर। मैंने निर्णय कर लिया था कि इर्द-गिर्द बहुत कम देखूँगा। पुरानी बातों को सोचने लगा, जिनमें अगर थोड़ी-सी तब्दीली हो सकती तो क्या से क्या हो गया होता!

गाड़ी साढ़े-पाँच बजे आती थी। सवा-पाँच तक दुबली-सी भीड़ प्लेटफार्म पर जमा हो गई थी। दूर तक टहल के लौटा तो देखा, मेरे सामान के पास वही साहब खड़े किसी स्त्री से बातें कर रहे हैं। मैंने हलो किया और पास ही खड़ा हो सिग्रेट पीने लगा। स्त्री पैंतालीस के करीब थी। वह उन स्त्रियों में से थी जो शुरू में (बीस-पच्चीस तक) खूब यौवन-भरी और तरल लावण्य से युक्त होती हैं। मगर उस उम्र के बाद उनके सौंदर्य में किन्हीं कारणों से कंगाली आती जाती है। ढाँचा लेकिन बना रहता है। उनको देख पीड़ा-सी होती है। मैंने अक्सर महसूस किया है कि सुंदर आदमी या स्त्री को दुखी देखकर अपेक्षाकृत अधिक सहानुभूति होती है।

उसके कपड़े मामूली थे मगर वह बहुत अच्छी अँग्रेजी बोल रही थी। उसकी आँखें काली थीं - कम चमकवाली!

'मैं तो हार गई। वह समझती ही नहीं' स्त्री कह रही थी। 'कहती है, यह जगह पसंद नहीं। आप ही समझाइए।'

साहब चुप रहे।

'कहती है कि उम्रभर नौकरी करनी है तो किसी अच्छी जगह क्यों न करूँ। नौकरी! आप तो जानते हैं। अब मैं क्या करूँ?'

'मैं समझाता हूँ', साहब ने कहा। लेकिन स्त्री के चेहरे पर प्रसन्नता नहीं आई। अपनी लड़की को वह शायद ज्यादा जानती थी।

'मुझे तो बहुत फिक्र है। पिछले तीन दिनों से, जब से यहाँ आई है, रो रही है', यह कहकर स्त्री रुआँसी हो गई।

वे शायद उसी लड़की की बात कर रहे हैं जो मुझे मोटर-रिक्शा में दिखाई दी थी। वह शायद इस स्त्री की लड़की है। सूरत भी मिलती है।

मैं यह सोच ही रहा था कि वह लड़की सामने से आती दिखाई दी। दोनों उसे एकटक देख रहे थे। उस लड़की का चेहरा उदास था। आकर वह माँ के पास खड़ी हो गई। माँ ने बिना बोले उसकी तरफ देखा। तीनों के बीच मौन तना रहा। लड़की के चेहरे पर उदासी के अलावा कठोर दृढ़ता थी जिससे उसके चेहरे की कोमलता में ओज-सा आ गया था।

कुछ देर तक वे लोग इसी तरह खड़े रहे। फिर माँ ने धीरे-से, मानो छिपाकर लड़की का हाथ पकड़ लिया। दोनों की आँखों में आँसू आ गए। उन्होंने स्थिति को स्वीकार कर लिया था। किस स्थिति को, यह एकदम ही समझ में नहीं आया। लड़की के चेहरे पर मुस्कराहट देखकर लगा कि वह यहाँ नौकरी नहीं करेगी। मेरे मन में तसल्ली हुई। इस बात पर कि अब मैं उस खूबसूरत लड़की का खिला चेहरा देख सकूँगा और इस पर भी कि अब वह मेरी तरफ देख सकेगी - नार्मल, जवान लड़की की दिलचस्पी के संग!

गाड़ी दो घंटे लेट आई। डिब्बों के दरवाजे बंद कर लोग सो रहे थे। बड़ी मुश्किल से एक दरवाजा खुलवाया। अंदर एक अधेड़ आदमी सो रहे थे। उनके चेहरे पर खीज थी। दरवाजा खोलकर वे अपनी सीट पर जाकर फिर सो गए। मैं और वह स्त्री डिब्बे में चढ़ गए। लड़की को शायद दो दिन बाद लौटना था। गाड़ी चली तो दरवाजे पर खड़ी हो माँ उसे वेव करने लगी। पीछे मैं खड़ा लड़की को आखिरी बार देख रहा था। गाड़ी जरा तेज होने लगी तो मेरा हाथ अनायास उठा और मैंने उसे हिलाया। लड़की ने देख लिया। एक

दौड़ते क्षण के लिए वह रुक-सी गई, फिर उसका मुँह लगभग हँसी से खुल गया और उसने थोड़ा जोर से अपना हाथ हिलाया।

उसकी 'माँ' ने मेरी तरफ देखा तो मैंने आँखें फेर लीं।

आज भी जब मैं उस सफर के बारे में सोचता हूँ तो अपने मन में यह जरूर पक्का कर लेता हूँ कि वह लड़की दो दिन बाद वहाँ से चली गई होगी।